

# महिला शिक्षा के समक्ष समसामयिक समस्याएं

भ्रामक लक्ष्य की दिशा में?

नन्दिनी मांजरेकर

भारत में समसामयिक महिला आंदोलन के सरोकारों में शिक्षा हाशिए पर क्यों नजर आती है, खासतौर से इस संदर्भ में कि शिक्षा के अधिकार को हासिल करने के लिए संघर्ष की एक परंपरा मौजूद रही है? शिक्षा से जुड़े सवालों से महिला आंदोलन पुनः किस प्रकार जुड़ सकता है? जेण्डर तथा शिक्षा के सरोकारों पर विचार करने संबंधी चुनौती आंशिक रूप से औपचारिक शिक्षा, व्यापक समाज तथा आर्थिक प्रक्रियाओं के बीच उन द्वंद्वात्मक संबंधों को तलाशने में स्थित है जो बालिकाओं व महिलाओं के जीवन को प्रभावित करती हैं। यह आलेख 2003 में लिखा गया था, हालांकि इसमें उठाए गए प्रश्न आज भी प्रासंगिक हैं।

1970 के दशक में महिलाओं के संघर्ष घरेलू हिंसा, महिलाओं के रोजगार व आजीविका, सांप्रदायिकता, मीडिया में उनका प्रतिनिधित्व आदि मुद्दों के गिर्द थे। इन संघर्षों ने महिला अध्ययन, जिसे महिला आंदोलन का 'अकादमिक अंग' कहा जाता है, की प्रेरणा दी। महिला अध्ययन से जुड़ी अध्ययनकर्ताओं ने पितृसत्ता के उन ढांचागत व सांस्कृतिक आधारों की आलोचनात्मक छानबीन की जो भारत में पितृसत्ता को परिवार, समुदाय तथा राज्य के स्तरों पर कायम रखने और उसके पुनरुत्पादन के कारक हैं। 1980 के दशक में महिला अध्ययन को अकादमिक जगत में वह वैधता मिल सकी जिसके वह योग्य है। यह वैधता पहले-पहल तो उसे संस्थागत रूप देने में मिले राजकीय सहयोग के कारण रही, पर तब इसलिए भी मिली क्योंकि जिन अनुशासनों को मुख्यधारा के अनुशासन कहा जाता है उनमें भी नारीवादी विद्वानों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने विभिन्न अनुशासनों के तथाकथित मूल्य निरपेक्ष नज़रियों पर सवाल उठाए। असमावेशीकरण (exclusion)

## लेखक परिचय

टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई में प्रोफसर हैं और 'शिक्षा का समाजशास्त्र' एवं 'जेण्डर और शिक्षा' पढ़ाती हैं।

तथा अदृश्यता की ओर संकेत किया। अकादमिक मुख्यधारा के विमर्श में महिलाओं की आवाज़ों तथा सरोकारों को हाशिए से, और अक्सर पन्ने से ही बाहर से, उठाकर केंद्र में रखा। उन्होंने लगातार सत्ता तथा ज्ञान के जटिल संबंध को बेनकाब किया और गहराई से उसकी छानबीन की। महिला अध्ययन ने ज्ञान की राजनीति से सीधे टक्कर ली।

फलतः यह आश्चर्यजनक है, और विवेचना के योग्य भी, कि ज्ञान की राजनीति से जुड़े नारीवादियों के काम में, अकादमिक अखाड़े में व सक्रियकर्म दोनों ही क्षेत्रों में, शिक्षा के क्षेत्र की उपेक्षा की गई। यह उपेक्षा शिक्षा के व्यापक अर्थ में भी की गई और खासतौर से स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में भी। आज़ादी के बाद से 1970 के दशक के प्रारंभिक, तथाकथित मूक वर्षों में, भारतीय महिलाओं पर औपचारिक शिक्षा के प्रभाव को *टुवर्ड्स इक्वालिटी* (समानता की ओर) रिपोर्ट (भारत सरकार, 1974) में बखूबी समेटा गया। रिपोर्ट ने संकेत किया था कि महिलाओं के बीच बढ़ती वर्ग असमानताओं में शिक्षा की भूमिका है। भारत में महिलाओं की स्थिति पर बनी समिति के निष्कर्षों को महिला आंदोलन को चेता देना चाहिए था कि भारत में औपचारिक शिक्षा के सामाजिक

चरित्र पर प्रश्न उठाने की ज़रूरत है, जिसने महिलाओं को वर्ग, जाति तथा प्रजाति में बांटने का काम किया है। विकास नीतियों व प्रतिमानों की व्यापक नारीवादी समीक्षाओं ने दुर्भाग्य से औपचारिक शिक्षा के ढांचे व प्रक्रियाओं के उन तौर-तरीकों पर गौर नहीं किया जिनसे वह बालिकाओं व महिलाओं को विषयों के संकुचित विकल्प व पद उपलब्ध करवाती है। यह न केवल उन्हें अवस्थित करता है बल्कि उनका वस्तुकरण कर राष्ट्रीय आख्यान में महज उपकरणों में तब्दील कर देता है।

औपचारिक शिक्षा पर विवेचनात्मक चिंतन की नामौजूदगी संकेत करती है कि भारत में ज्ञान के पदसोपान में, यहां तक कि नारीवादी ज्ञान तक में, शिक्षा संबंधी अध्ययनों का दर्जा निम्न है। पश्चिम में शिक्षा के नारीवादी विद्वानों ने पूंजीवादी समाज में स्कूली शिक्षण तथा जेण्डर संबंधों के पुनरुत्पादन को समझने में योगदान दिया है। उन्होंने नारीवादी नज़रिए से यह जांचा है कि नस्ल, वर्ग तथा जेण्डर किस प्रकार नीतियों, स्कूली ज्ञान, जेण्डर व नस्ल से प्रभावित पहचानों के निर्माण में और उनके विरोध के तरीकों में अपनी भूमिका निभाते हैं। भारत में सैद्धान्तिक कार्य के अभाव में शिक्षा के मुद्दों में रुचि रखने वाले अधिकांश लोगों को इसी पश्चिमी साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। भारत में अब तक भी कोई ऐसा साझा विमर्श नहीं उभरा है जिसके तहत हम यह चर्चा कर सकें कि हमारी शैक्षिक दृष्टि, राष्ट्रवादी युग में तथा आज़ादी के बाद भी, किस कदर जेण्डर प्रभावित रही है; या जिसके तहत हम बालिकाओं की शिक्षा को उनके श्रम व यौनिकता के मुद्दों के संदर्भ में जांच सकें।

इसके बावजूद ऐसा पर्याप्त साहित्य है जिससे हम अपने ही संदर्भ में इन मुद्दों को समझने के ढांचे निर्मित कर सकते हैं। विभिन्न अनुशासनों के नारीवादी परिप्रेक्ष्यों के अलावा भी विभिन्न प्रकार के स्रोत उपलब्ध हैं (महिलाओं का लेखन, महिला संगठनों के इतिहास, महिलाओं के रोज़नामचे, नीति दस्तावेज़, गैर-सरकारी संगठनों की रिपोर्टें, आदि) जो जेण्डर तथा शिक्षा की सैद्धान्तिक समझ गढ़ने का आधार उपलब्ध करवाते हैं। फिर भी विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण काम अभी बाकी है। इस दरमियान हममें से जो महिला अध्ययन या महिला आंदोलन के तहत शिक्षा पर काम कर रहे हैं उन्हें ठेलते और धकियाते जाना होगा, ताकि शैक्षिक मंचों में जेण्डर परिप्रेक्ष्य का और महिला आंदोलन में शैक्षणिक सरोकारों का समावेश हो सके।

उपरोक्त चर्चा की मंशा महिला अध्ययन द्वारा किए गए हस्तक्षेपों के महत्त्व को कमतर जताने की नहीं है। 1986 में महिला अध्ययन के विद्वानों के सतत् प्रयासों के कारण ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने इस आवश्यकता पर खासतौर से बल दिया कि शिक्षा महिलाओं की समानता के प्रति अभिमुख हो, उसे तरजीह दे और महिला सशक्तीकरण में एक सकारात्मक भूमिका निभाए। शिक्षा नीति ने यह अनुशंसा भी की कि पाठ्यपुस्तकों में संशोधन किया जाए तथा उनमें जेण्डर पूर्वाग्रहों व स्त्रियों की रूढ़िविधियों को हटाया जाए, शिक्षक प्रशिक्षण ऐसा हो जो उन्हें अधिक जेण्डर संवेदनशील बनाए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 इस अर्थ में एक प्रगतिशील नीति थी कि इसमें शिक्षा के माध्यम से जेण्डर समानता को सरकार की सामाजिक व राजनीतिक प्रतिबद्धता का रूप दिया। इस नीति ने लगातार महिला शिक्षा संबंधी पैरवी के प्रयासों का मार्गदर्शन किया है। नीतिगत स्तर पर इस प्रमुख हस्तक्षेप के बावजूद, इसका प्रभाव इस अर्थ में सीमित रहा कि शिक्षा, खासतौर से स्कूली शिक्षा, महिला आंदोलन तथा महिला अध्ययन के तहत ज्ञान की रचना में हाशिए पर ही बनी रही। फलतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा समिति (एनपीईआरसी) ने 1986 की नीति की समीक्षा करते समय यह टिप्पणी की कि, 'स्कूली शिक्षा की विषयवस्तु व प्रक्रिया' संबंधी अध्याय में जेण्डर जाहिर तौर से नदारद है, सिवा इस उल्लेख के 'लिंगों की समानता' शिक्षा के 10 केंद्रीय क्षेत्रों में से एक होगा (अनुच्छेद 6)। समीक्षा ने यह भी संकेत किया कि जेण्डर को संबोधित करने का काम जटिलताओं से भरा है:

...शिक्षा की विषयवस्तु में जेण्डर परिप्रेक्ष्य का मतलब पाठ्यपुस्तकों में से लिंग पूर्वाग्रहों व रूढ़िविधियों को हटाने से अधिक है... पाठ्यचर्या में जेण्डर परिप्रेक्ष्य को लाना जटिल काम है और इसके लिए शोध के निवेश, चर्चा व बहस की आवश्यकता होगी... (एनपीईआरसी 1990 : 44)।

शैक्षिक सुविधाओं तक जेण्डर आधारित (जेण्डर्ड) पहुंच, स्कूली पाठ्यपुस्तकों में लिंगवाद (सैक्सिज्म) तथा पाठ्यचर्या विकल्पों का रूढ़ीकरण (स्टीरियोटाइपिंग) ऐसे मुद्दे हैं जिनकी महिला अध्ययन के विद्वानों ने गहन जांच की है। ये मुद्दे अपने-आपमें बेहद महत्वपूर्ण हैं, परन्तु वे स्कूली शिक्षण की अन्य प्रक्रियाओं से स्वतंत्र नहीं हैं। स्कूली पाठ्यचर्या में ज्ञान के जिन स्वरूपों को शामिल किया जाता है व उनकी जैसे व्याख्या की जाती है दरअसल वे औपचारिक शिक्षा के विमर्शों तथा समाज में प्रचलित सामाजिक संबंधों को प्रतिबिम्बित करते हैं, वे ही सामाजिक असमानताओं को गढ़ते हैं, उन्हें सामान्यता का जामा पहनाते हैं और वैधता भी प्रदान करते हैं - इन प्रक्रियाओं में राज्य एक महत्वपूर्ण नियामक भूमिका अदा करता है।

हमें इस तथ्य का विवेचनात्मक विश्लेषण करना होगा कि भारत के समसामयिक महिला आंदोलन के सरोकारों में शिक्षा हाशिए पर क्यों रहा है। खासतौर से तब, जब अपने शिक्षा के अधिकार को स्थापित करने के लिए महिलाओं के संघर्ष की विरासत मौजूद है। इस बात पर चिंतन किया जाना चाहिए कि कहीं औपचारिक शिक्षा की उपकरणवादी प्रकृति ने, खासतौर से आज़ादी के बाद के युग में, बालिकाओं के आत्म-बोध तथा उनके भौतिक विकास के संदर्भ में औपचारिक शिक्षा का क्या अर्थ हो सकता है इसकी अधिक प्रगतिशील व्याख्याओं को कुंठित तो नहीं कर दिया है। बालिका शिक्षा की पूर्वधारणा, खासकर गरीब बालिकाओं की शिक्षा की पूर्वधारणा ही - और यहां नीति के शब्दाडम्बर को प्रचलित धारणाओं को पृथक कर पाना कठिन है - इस समझ पर आधारित है कि शिक्षा सामाजिक विकास के लिए अत्यावश्यक है। अर्थात् प्रजनन दर कम करने, बच्चों के बेहतर लालन-पालन, आदि-इत्यादि के लिए शिक्षा ज़रूरी है। एक ओर महिला शिक्षा के 'फायदों' संबंधी ये आदर्श विचार आकर्षक और अकाट्य हैं; दूसरी ओर वे बालिकाओं व महिलाओं के शिक्षा के अधिकार के संघर्ष को घटाकर केवल पहुंच के मुद्दे तक समेट देते हैं। मुख्यधारा की शिक्षा और पाठ्यचर्या विमर्श में टकराव तथा विवाद के मुद्दों का अभाव और उनसे कतराने की वृत्ति इस एक-आयामी समझ में इज़ाफा करती है।

महिला समूहों तथा गैर-सरकारी संगठनों के लिए औपचारिक शिक्षा व्यवस्था, खासतौर से सरकारी शिक्षा व्यवस्था के बाहर बालिकाओं के साथ काम करना अधिक आसान रहा है। क्योंकि शिक्षा व्यवस्था अपने गैर-लचीलेपन के लिए कुख्यात है। वह निर्देशात्मक है और भारत में शिक्षित होने का क्या अर्थ होता है इसकी छवि आंकने की कोशिश में परिचित आंकड़ों को दोहराने का खतरा तक मोल लेती है। आंकड़े दर्शाते हैं कि बच्चों की बड़ी संख्या, खासकर गरीब बच्चे, सरकारी स्कूलों में हैं। इन स्कूलों में अधिकांश की स्थितियां सार्थक शिक्षण के प्रतिकूल हैं। सरकारी स्कूलों का बहुत कम प्रतिशत ही ऐसा है जिनमें पर्याप्त कमरे, शौचालय और पेयजल, सिखाने-सीखने की सामग्री व पुस्तकालय जैसी बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध हैं। इस बात के सबूत भी मौजूद हैं कि भौतिक पहुंच के अभाव, पाठ्यचर्या की अप्रासंगिकता, लगातार 'फेल' किए जाने और स्कूल में कठोर बरताव, बच्चों द्वारा स्कूल छोड़ देने या दाखिला ही नहीं लेने में योगदान करते हैं। यह भी पाया गया है कि उपरोक्त घटकों का बालिकाओं पर और भी अधिक असर होता है (आनंदलक्ष्मी 1994:118, जलालुद्दीन 1991:33, प्रोब 1999)। एनएसएसओ सर्वेक्षण (1995-96) के अनुसार स्कूल छोड़ने वालों में तकरीबन 26 प्रतिशत ने गरीबी के बजाय अन्य कारण बताए - स्कूल का गैर-दोस्ताना वातावरण, स्कूली पढ़ाई की उपयोगिता पर शंका और पढ़ाई से निपट पाने में असमर्थ होना। स्कूल छोड़ने वाली बालिकाओं में 75 प्रतिशत ने इन घटकों के चलते पढ़ाई छोड़ी थी (एनएसएसओ, 1998)। पढ़ाई छोड़ देने वाली बालिकाओं का प्रतिशत स्कूलों में बेहद ऊंचा है : 1997-98 के आंकड़े संकेत देते हैं कि 41 प्रतिशत बालिकाएं प्राथमिक स्तर पर, 58 प्रतिशत माध्यमिक स्तर पर तथा 72 प्रतिशत सैकेण्डरी स्तर पर पढ़ाई छोड़ देती हैं (भारत सरकार, 2000)। ग्रामीण बालिकाओं में ठहराव दर लड़कों की तुलना में दुगुनी पाई गई है (सुदर्शन, 1998:19)। सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों का अंक व अक्षर कौशल दयनीय है, और गरीब बालिकाओं में उसका तब और भी अवमूल्यन हो जाता है जब वे स्कूल छोड़ अक्सर ऐसे वातावरण में लौटती हैं जो साक्षरता को प्रोत्साहित नहीं करते या उसे कायम नहीं रख पाते।

## नई चुनौतियां

जेण्डर तथा शिक्षा संबंधी हमारे सरोकारों पर विचार करने की चुनौती आंशिक रूप से औपचारिक शिक्षा व्यवस्था और व्यापक सामाजिक व आर्थिक प्रक्रियाओं के बीच द्वंदात्मक जुड़ावों को, और बालिकाओं व महिलाओं के जीवन पर उनके प्रभाव को उघाड़ने की है। वर्तमान संदर्भ में हम अब देख रहे हैं कि पहले से ही कमज़ोर व अपने लक्ष्यों से विमुख शिक्षा व्यवस्था लगातार दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया व बाज़ार का मिलाजुला हमला झेल रही है। ये दोनों ही सामाजिक विभाजनों और असमानताओं को गहराने का काम करते हैं।

एक गंभीर मुद्दा जो बालिकाओं की शिक्षा को प्रभावित कर रहा है, वह है पाठ्यचर्या विमर्श का दक्षिणपंथी हिन्दुओं द्वारा अधिग्रहण। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2000 में जेण्डर मुद्दों पर एक स्पष्ट रुख अपनाया गया, जो पूर्ववर्ती नीति दस्तावेजों के शब्दाडम्बर व नज़रिये से पूरी तरह कटा हुआ है। इसमें महिलाओं को एक सबल करने वाली संस्कृति में नहीं तो कम से कम एक हितकारी संस्कृति में स्थित करने की कोशिश की गई। इस विचार को प्रोत्साहित करने की चेष्टा की गई कि जेण्डर समानता हमारी सांस्कृतिक विरासत का जैविक हिस्सा है और बालिकाओं की शिक्षा की भूमिका सामाजिक बदलाव लाने की नहीं बल्कि सामाजिक संबद्धता स्थापित करने की होनी चाहिए। माताओं के रूप में महिलाओं का महिमामण्डन और यह घोषणा कि जेण्डर समानता 'गैर-विरोधी' स्थितियों से प्रोत्साहित की जाएगी, 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (भारत सरकार, 1986) से भिन्न दृष्टिकोण को दर्शाता है। 1986 की नीति में शिक्षा को एक हस्तक्षेप करने वाले माध्यम के रूप में रखा गया था जो भारतीय समाज में जेण्डर समानता को प्रोत्साहित करे।

अध्ययनों ने दिखाया है कि स्कूली शिक्षा का निजीकरण, जो पहले शहरी संस्कृतियों तक सीमित था, 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों से ग्रामीण इलाकों में भी बढ़ने लगा है। नव-उदारवादी विमर्श ने औपचारिक शिक्षा से सरकार के यों पीछे हटने को वैधता दी और उसका समर्थन किया। इस विमर्श का सबसे प्रमुख दस्तावेज है अम्बानी-बिरला रिपोर्ट (2000) जो शिक्षा को कल्याण का ऐसा काम मानती है जिससे कोई भलाई नहीं होगी (non-merit good) के रूप में सूचिबद्ध करता है।

कई सूक्ष्म स्तर के अध्ययनों ने संकेत किया है कि परिवार अपने बहुत ही कम संसाधनों का निवेश अपने बेटों को सरकारी स्कूलों के बजाय निजी स्कूलों में भेजने में करते हैं। व्यापक धारणा यह है कि अंगरेज़ी, जो अभिजात से लेकर घटिया स्तर तक के विभिन्न निजी स्कूलों में पढ़ाई जाती है, वही लगातार सिकुड़ते श्रम बाज़ार में उपलब्ध बहुत ही कम नौकरियों की स्पर्धा में सफल हो पाने की कुंजी है। इन रुझानों का निहितार्थ जेण्डर विभाजन को और पैना बनाने में क्या है, और शिक्षा में बालिकाओं की भागीदारी पर उनका क्या दूरगामी प्रभाव होगा, इसका अध्ययन आवश्यक है। ये रुझान हमें याद दिलाते हैं कि महिला आंदोलन को महिलाओं की शिक्षा से जुड़े मुद्दों पर अपना संघर्ष और सघन करना होगा।

## राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा जिसका 2000 में औपचारिक विमोचन किया गया, दक्षिणपंथी हिन्दुओं द्वारा राज्य के वैचारिक उपकरण, खासतौर से शिक्षा को, हथियाने और राष्ट्रीय स्तर पर अपने प्रतिगामी अजेण्डा को धकियाने के प्रयास को प्रतिबिम्बित करता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, पूर्ववर्ती रूपरेखाओं से महत्वपूर्ण अर्थों में एक भिन्न पथ लेती है (1968 की शिक्षा नीति के बाद जो रूपरेखा 1975 में आई, और 1986 की नीति के बाद जो 1988 में आई)। इन रूपरेखाओं ने लोकतांत्रिक तथा सामाजिक न्याय के मूल्यों, और विभिन्न उप-संस्कृतियों की समझ बढ़ा राष्ट्रीय एकता की भावना गढ़ने पर बल दिया था। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2000 पर जो बहस हुई, और उसकी जो तीखी आलोचना हुई (वह सर्वोच्च न्यायालय में दायर याचिका में, और एक हद तक मीडिया में की गई चर्चा में मुखरित हुई) उसने शिक्षा की वैचारिक प्रकृति की गहनता को रेखांकित किया। अपने घटियापन और घिस-पिटे विचारों के साथ शानदार नज़र आने वाली इस रूपरेखा का पाठ दक्षिणपंथियों के शैक्षिक अजेण्डा का अशुभ वर्णन है। यह

गौर करने लायक है कि यह रूपरेखा शिक्षा के सभी स्तरों में मौजूद अपर्याप्तता को कहीं भी संबोधित नहीं करती। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में सामाजिक ज्ञान के पुनर्गठन में इतिहास को प्रमुख स्थान दिया गया है। जो इतिहासकार 2000 से ही रूपरेखा का विरोध कर रहे थे वे अंततः सही सिद्ध हुए हैं। इतिहास की जो पाठ्यपुस्तकें (सर्वोच्च न्यायालय द्वारा लगाए गए स्थगन आदेश के खारिज होने के बाद) प्रकाशित हुईं, उनमें न केवल इतिहास को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया वरन् महान हिन्दू अतीत के प्रति मोह भी शामिल था। रूपरेखा के सभी भागों में मूल्यों की शिक्षा की झीनी आड़ में धार्मिक शिक्षा छिपी है। मूल्य शिक्षा ही वह मुख्य मंच है जिस पर भारत के 'आध्यात्मिक व नैतिक नवीनीकरण' का प्रवर्तन शिक्षा के माध्यम से किया गया है:

स्कूल उन शाश्वत मूल्यों को फिर से प्रतिष्ठित करने व उन्हें कायम रखने की चेष्टा कर सकते हैं, और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए, जो लोगों की एकता व एकीकरण तथा उनके नैतिक व आध्यात्मिक विकास की ओर अभिमुख हों ताकि वे उनमें निहित खज़ाने को साकार कर सकें। लोगों को यह अहसास होना चाहिए कि वे कौन हैं और मानव जीवन का चरम उद्देश्य क्या है। सही मूल्य शिक्षा जो आध्यात्मिक प्रगति को अवचेतन के स्तर से उठा, बीच के चरणों को पार करते हुए परा-चेतना तक पहुंचाए, उसके द्वारा ही स्व की पहचान हो सकेगी। मूल्य आधारित शिक्षा राष्ट्र को सभी प्रकार की मतांधता, विद्वेष, हिंसा, भाग्यवाद, बेईमानी, लालच, भ्रष्टाचार, शोषण व नशाखोरी के विरुद्ध संघर्ष करने में सहायक होगी (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2000: 17)।

इस रूपरेखा के अनुसार, 'पैगम्बरों व संतों के जीवनो और पवित्र ग्रंथों से सीखने के द्वारा ही बच्चे उच्चतर आध्यात्मिक लब्धि (स्परिच्युअल क्वेशेंट) व भावनात्मक लब्धि (इमोशनल क्वेशेंट) प्राप्त कर सकते हैं (पृ.13)। कल्पना यह की गई है कि मूल्य शिक्षा बच्चे के स्कूली अनुभव का अनिवार्य हिस्सा होगी। रूपरेखा की दृष्टि में बालक को ऐसे वातावरण में डुबाया जाएगा जहां प्रमुख मूल्य, लोकतांत्रिक शासन के नागरिकता संबंधी नियमों से नहीं, बल्कि धर्म से निकलेंगे।

मूल्य शिक्षा व धर्मों की शिक्षा किसी भी स्तर पर अध्ययन या परीक्षा का पृथक विषय नहीं होगा। इन्हें विवेकपूर्वक अध्ययन के सभी विषयों तथा सहायक कार्यक्रमों में इस प्रकार समेकित किया जाएगा कि उनके उद्देश्य कक्षा में, स्कूल सभा में, खेल मैदान में, सांस्कृतिक केंद्रों में व ऐसे ही अन्य स्थानों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हासिल किया जा सके (एनसीईआरटी 2000:33)।

इस नीरस बकवास के अलावा, यह रूपरेखा महिला आंदोलन के लिए भी एक भारी आघात है। वह महिला शिक्षा के ऐसे भविष्य का संकेत करती है जो उनको अशक्त बनाए। जिस अगंभीरता से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा सामाजिक वंचना को संबोधित करती है उसकी बानगी हम वंचितों की दी गई श्रेणियों में देख सकते हैं जहां तमाम किस्म के नागरिकों को एक ही श्रेणी में शामिल कर लिया गया है: महिला, दलित, आदिवासी तथा विकलांग बच्चे। धार्मिक परंपरा का मूल्यवर्धन, जो इस दस्तावेज की विशिष्टता है, वह इस बात को ही नकारता है कि परंपरा महिलाओं के जीवन में मूलतः दमनकारी भूमिका निभा कर उनकी यौनिकता, श्रम और वैयक्तिकता को नियंत्रित करती है।

अतः इससे अचरज नहीं होता कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा स्त्रियों पर अपनी वैचारिक स्थिति को उस अध्याय में शामिल कर स्पष्ट करती है जिसका शीर्षक है 'समन्वित समाज के लिए शिक्षा'। यहां हमें इस बात की झलक मिलती है कि बालिकाओं को कैसे 'सही' प्रकार से शिक्षित किया जा सकता है। पितृसत्तात्मक दमन तथा समानता व न्याय के लिए संघर्ष उस सामाजिक व्यवस्था के लिए मुद्दे ही नहीं हैं जिसमें जाति व जेण्डर के पदसोपानों को गैर-विरोधी (नॉन-कॉन्फ्लिक्टुअल) माना गया हो और वे महान भारतीय परंपरा के जोड़हीन बनावट के सामंजस्यपूर्ण तत्व हों:

शिक्षा तक अधिक से अधिक बालिकाओं की, खासतौर से ग्रामीण बालिकाओं की पहुंच बनाने (के अलावा), स्कूली पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकों और शिक्षण प्रक्रिया से सभी जेण्डर भेदभाव और जेण्डर पूर्वाग्रह हटाना बेहद

आवश्यक है। साथ ही यह भी नितांत उचित होगा कि श्रेष्ठतम भारतीय परंपरा में प्रत्येक जेण्डर की श्रेष्ठ विशेषताओं को पहचाना व पोषित किया जाए। आखिर भारत ने पश्चिम के विपरीत अपनी महिलाओं को बिना किसी लम्बी लड़ाई के मतदान का अधिकार जो दिया है। जेण्डर समावेशी व जेण्डर संवेदनशील पाठ्यचर्या रणनीतियों को विकसित व क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। ताकि बालिकाओं व बालकों की उन पीढ़ियों को पोषित किया जा सके जो समान रूप से योग्य हों और एक-दूसरे के प्रति संवेदनशील भी, और एक-दूसरे की परवाह करने व एक-दूसरे से बांटने के वातावरण में प्रतिस्पर्धियों की तरह नहीं बल्कि बराबर दर्जे के इंसानों के रूप में पलें-बढ़ें (एनसीईआरटी 2000:9, बलाघात जोड़ा गया है)।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा बड़ी सिफत से बालिकाओं व महिलाओं की शिक्षा की प्रचलित उपकरणवादी दृष्टि को समायोजित कर लेती है, जिसमें स्त्रियों को मुख्यतः प्रजननकर्ता के रूप में देखा जाता है।

अगर अधिक महिलाओं को बदलाव का एजेन्ट बनाना हो तो शिक्षा तक पहुंच के अवसरों में समानता आवश्यक है। अतः परिवार में स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षा के स्तर को सुधारने की और निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी में स्त्रियों को सक्षम बनाने की एक महत्त्वपूर्ण कुंजी है महिला शिक्षा। छोटे बच्चों की शिक्षा, खासकर बालिका शिक्षा में निवेश से उच्च सामाजिक व विकास संबंधी लाभों की उम्मीद की जा सकती है (एनसीईआरटी 2000:19)।

यह लोभ हो सकता है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को उस दुष्प्रचार के रूप में खारिज कर दिया जाए जो सांस्कृतिक राष्ट्रवादी सामान्यतः करते हैं और जिसे आजकल मीडिया इतना स्थान देता है। पर यह स्मरण रखना ज़रूरी है कि यह रूपरेखा, करोड़ों बच्चे पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से जिस प्रकार अपनी सामाजिक दुनियाओं और पहचानों को समझते हैं, उसे प्रभावित करेगी। साथ ही, विडम्बना यह भी है कि रूपरेखा की आधुनिकता विरोधी दृष्टि वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं से पूरी तरह सुसंगत है। पाठ्यचर्या का 'भारतीयकरण' और 'आध्यात्मीकरण' शिक्षा को बाज़ार उन्मुख बनाने के कतई विरुद्ध नहीं है। रूपरेखा ने व्यावसायिक शिक्षा की अनुशांसा की, जिसे छात्र 12वीं कक्षा के बाद मूलतः कॉलेज शिक्षा के विकल्प के रूप में चुन सकते हैं। पर भारतीय शिक्षा में यह सुझाव नहीं चला, 5 प्रतिशत से भी कम छात्रों ने व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को चुना (विसारिया, 1998)। बालिकाओं के व्यावसायिक पाठ्यक्रम बेहद जेण्डर आधारित हैं- टाइपिंग, सिलाई आदि जैसे, जो उन्हें हद से हद केवल असंगठित क्षेत्र में कम वेतन पर प्रवेश करने देते हैं। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा अब 10वीं कक्षा के बाद ही बच्चों को व्यावसायिक धारा में पृथक करने का सुझाव देती है। ऐसा करने से गरीब बालिकाओं, दलितों व हाशिए के अन्य समूहों के बच्चों की उच्च शिक्षा तक पहुंच और सीमित होगी और उनका उस स्तर पर प्रतिनिधित्व घटेगा। इससे जाति, वर्ग व जेण्डर आधारित असमानताएं और अधिक गहराएंगी।

गुजरात में, जो हिन्दुत्व का धरिया (crucible) है, यह देखा जा सकता है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा जैसे दस्तावेज अपनी शक्ति व उद्देश्य को कहां से प्राप्त करते हैं। गुजरात में कम से कम विगत पांच वर्षों से हिन्दुत्व संगठनों के ध्यान का मुख्य केंद्र शिक्षा रहा है। पंचमहल में जहां हम स्कूलों में सन् 2000 में ज़मीनी काम कर रहे थे, सरकार द्वारा नियुक्त विद्या सहायक, स्कूलों में सत्संग आयोजित करते थे और विश्व हिन्दू परिषद् के कार्यक्रमों में भागीदारी करते थे (मांजरेकर व सुरती 2000)। 1998 में एक मुस्लिम युवक व एक आदिवासी लड़की के विवाह के बाद हुई सांप्रदायिक हिंसा की घटना की तथ्यात्मक छानबीन करने वाली एक टोली गुजरात में सांजेली-रणधिकपुर गई। यहां उनकी मुलाकात ऐसे स्कूली शिक्षकों से हुई जिन्होंने मुसलमान युवक के विरुद्ध हिंसा को जायज बताया और क्षेत्र में विहिप-बजरंग दल द्वारा उठाए गए कदमों का समर्थन किया (पीयूसीएल रिपोर्ट)। भाजपा के चुने जाने के बाद से गुजरात में आदिवासी इलाकों में स्कूलों को चलाने को लेकर ईसाई व राष्ट्रीय स्वयं सेवक संगठनों में टकराव भी उभरा है।

मार्च 2002 में, सर्वोच्च न्यायालय में चल रहे मामले पर ध्यान दिए बिना, गुजरात में, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा के दिशानिर्देशों के अनुरूप पाठ्यचर्या संशोधित की जाने लगी। इसमें आश्चर्य नहीं कि पाठ्यचर्या संशोधन में आरएसएस से जुड़े संगठनों को जोड़ा गया। रूपरेखा के दिशानिर्देशों की तर्ज पर, भाजपा सरकार के बनने के बाद की पाठ्यपुस्तकों 'हमारे प्राचीन मनीषियों की बुद्धिमत्ता' की कथाओं की भरी पड़ी हैं: रूपरेखा के अनुरूप संस्कृत सभी स्कूलों में कक्षा 6 से पढ़ाई जाएगी। गुजरात के शिक्षा मंत्री ने स्कूल प्राचार्यों व शिक्षकों के साथ आयोजित सेमिनार में वक्तव्य दिया कि जून 2003 तक 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या' लागू करने के लिए एक राज्यस्तरीय 'अभियान' की आवश्यकता है (पीयूसीएल- वड़ोदरा शांति अभियान द्वारा राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को भेजा गया निवेदन)। अब यह आगामी शिक्षा सत्र (2004) में क्रियान्वित होने को है।

शिक्षा के इस नियोजित भगवाकरण में ऐसी 'मूल्य शिक्षा' पर बल दिया जा रहा है जो सामाजिक न्याय, सहिष्णुता व विविधता के स्थान पर धर्म व 'परंपरा' से निःसृत है। आज़ादी के बाद के युग में शिक्षा का नारा था 'अनेकता में एकता' का विचार। इस विचार में अपनी समस्याओं के बावजूद कुछ शिक्षाशास्त्रीय मूल्य था, पर उसे चुपचाप दफना दिया गया है। यह नया हस्तक्षेप अन्य क्षेत्रों में भी समाज की ऐसी अधिसंख्यक दृष्टि निर्मित करने के प्रयास का हिस्सा है जिसमें हाशिए पर आने वाले लोगों, खासकर अल्पसंख्यकों, के लिए सांस्कृतिक व राजनीतिक स्थान लगातार संकुचित होगा। इसे प्रारंभ करने की स्कूल से बेहतर जगह भला कौनसी होगी? गुजरात में हाल में मुसलमानों के हत्याकाण्ड का अनुभव यह सवाल उठाता है कि भगवाकृत पाठ्यचर्या क्या वह पृष्ठभूमि नहीं उपलब्ध करवाएगी जिसमें अल्पसंख्यकों के प्रति असहिष्णुता व अन्याय को जायज ठहराया जा सके? ये विकृतियां विभिन्न वर्गों, जातियों, धर्मों व नस्लों की बालिकाओं की पहचान को जिन जटिल तरीकों से प्रभावित करेंगी, कुछ के सशक्तीकरण का भ्रम पैदा करेंगी और दूसरों को उग्र रूप से अशक्त बनाएंगी, वे सभी महिला आंदोलन के लिए सरोकार का कारण हैं।

## शिक्षा तथा बाज़ार

जब से भारत में बाज़ार सुधार प्रारंभ किए गए तब से ही लगातार सामाजिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका के अवमूल्यन की चेष्टा भी की जा रही है। इसमें कोई शंका नहीं कि भारत की सरकार को देश के संवैधानिक निदेशों के प्रति कटिबद्धता के अभाव की ज़िम्मेदारी वहन करनी ही होगी, जो यह आवश्यक बनाते हैं कि आज़ाद भारत के सभी बच्चे स्वस्थ व शिक्षित हों। फिर भी हमें इस बात पर विचार करना होगा कि सरकार के प्रदर्शन में इस अभाव का सही समाधान क्या दरअसल शिक्षा के क्षेत्र का निजीकरण है। इस तथ्य के अधिकाधिक प्रमाण मिल रहे हैं कि संभावना यही है कि निजीकरण से शिक्षा में जेण्डर असमानता और गहराएगी।

अप्रैल 2000 में, प्रधानमंत्री की व्यापार व उद्योग परिषद् ने शिक्षा में सुधार की नीति की रूपरेखा पर एक रिपोर्ट प्रेषित की। इस 'विशिष्ट विषय समूह' के संयोजक व मुख्य सदस्य दो अग्रणी उद्योगपति थे। यह रिपोर्ट भारत में शिक्षा की स्थितियों को सारगर्भित तरीके से रखती है और साथ-साथ मौजूद भिन्न दुनियाओं के अस्तित्व का जिक्र करती है: चुनिंदा साधन सम्पन्न लोग, विभिन्न क्षेत्रों द्वारा बदलाव का विरोध, और अरक्षणीय रूप से प्रतिकूल सीखने के वातावरण में गरीब बच्चों की स्थिति। रिपोर्ट शैक्षिक स्तरों को उठाने की और 'स्पर्धात्मक परन्तु सहकारी ज्ञान आधारित समाज की रचना' की बात करती है। रिपोर्ट स्पष्ट रूप से सैकेण्डरी क्षेत्र की शिक्षा को निजी पहलों के लिए खोलने की आवश्यकता के पक्ष में तर्क रखते हुए यह भी कहती है कि प्राथमिक स्तर को सरकार के पूर्ण सहयोग की ज़रूरत है ताकि संविधान के अनुच्छेद 45 की शर्तें पूरी की जा सकें।

रिपोर्ट स्पष्ट शब्दों में सरकार से गुहार करती है कि वह सैकेण्डरी क्षेत्र में प्रत्येक ताल्लुका में निजी निवेश का तथा 'इस्तेमाल करने वाला कीमत चुकाए' ('यूजर पेयर्स') सिद्धान्त का, और साथ ही उच्च शिक्षा के स्तर पर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का समर्थन करे। रिपोर्ट में सीखना दरअसल होता क्या है, बच्चों को क्या और कैसे सिखाया जाना चाहिए

पर चिंतन का नितांत अभाव है। इसमें 'स्मार्ट स्कूलों' की रचना की बात की गई है जो स्पर्धात्मक व नवाचार युक्त हों। 'हमारा प्रयत्न', रिपोर्ट सुझाती है, 'यह रहेगा कि हम ऐसा वातावरण रचें जो औद्योगिक कार्मिकों व श्रमिकों का उत्पादन करने के बदले "कटिंग एज" ज्ञान संसाधनों को पोषित करे जो भारत को "सूचना युग" में अग्रणी स्थान पर स्थापित कर सके' (पृ. 3)।

रिपोर्ट में अनेक विवादित मुद्दों पर बहस की आवश्यकता है। सर्वप्रथम ऐसा क्योंकर है कि राष्ट्रीय शिक्षा की प्राथमिकताएं क्या होनी चाहिए, इसका आदेश उद्योग जगत दे। ज़ाहिर है कि एक विशाल शैक्षिक बाज़ार यहां दांव पर है। सामाजिक क्षेत्र की अन्य नीतियों पर करीब से नज़र डालें तो वे भी यही कहानी बयान करेंगी। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000, बालिकाओं की बुनियादी शिक्षा में निजी निवेश की और ग्राम स्तर पर बाज़ारों की रचना की बात करती है ताकि बालिकाएं व्यावसायिक प्रशिक्षण लेने को प्रोत्साहित हों। यह साफ है कि शिक्षा में बाज़ार के हस्तक्षेप के तर्क का रिश्ता वैश्विक अर्थव्यवस्था में शिक्षा को भी व्यापार के एक उभरते क्षेत्र के रूप में देखने का संदर्भ तथाकथित 'कुशलता' से और लाभ वर्धन से है। पर जो भयावह है, वह यह है कि किसी भी शैक्षिक दृष्टि या परिप्रेक्ष्य को इसी तर्क के तहत घुटने टेकने होंगे। अम्बानी-बिरला रिपोर्ट में 'ज्ञान' और 'सूचना' को समान माना गया है, क्योंकि यह वैश्विक सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) बाज़ार में प्रवेश को जायज़ बनाता है। पर क्या हमें यह सोचने के लिए रुकना नहीं चाहिए कि इस नज़रिए ने शिक्षा को बच्चों के लिए प्रासंगिक व संदर्भ में स्थित बनाने के वर्षों के संघर्ष व बहस को एक ही झटके में नकार दिया है। क्योंकि प्रासंगिक व संदर्भित शिक्षा ही स्कूली शिक्षण में बच्चों की रुचि को कायम रखने का श्रेष्ठतम तरीका है। क्या हमने उपलब्ध सबूतों से कुछ भी नहीं सीखा कि पाठ्यचर्या में सूचना का आधिक्य ही वह कारण है कि बच्चे स्कूलों को उबाऊ पाते हैं, और अन्य समस्याओं के उभरने पर, समय से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं? पर बाज़ार तो सूचना की मांग करेगा, उस स्थानीय ज्ञान की नहीं जिससे बच्चे परिचित हैं और जिससे वे वास्तविक कौशल हासिल कर सकते हैं। रिपोर्ट के नव-उदारवादी नज़रिए का राजनीतिक व शिक्षाशास्त्रीय, दोनों ही आधारों पर विरोध करने की आवश्यकता है।

### निजीकरण: जेण्डर असमानताओं को और गहराना

1990 के दशक तक नीति दस्तावेजों में निजीकरण का कोई उल्लेख नहीं मिलता, सो यह तथ्य चौंकाता है कि यह विचार कितनी तेज़ी से फैला और उसने नीति निर्माताओं की कल्पना को किस कदर मोह लिया। शिक्षा के क्षेत्र से सरकार का हटना और निजी उद्यम का प्रवेश नियोजित कदम है, कोई चूक नहीं। अर्थव्यवस्थाओं में ढांचागत सुधार के संदर्भ में सभी बच्चों को शिक्षा मुहैया करवाने में सरकार की असफलता एक भिन्न आयाम ले लेती है। कुशलता के नाम पर अन्य देशों में सुधार के ऐसे प्रयासों के अनुभव बताते हैं कि जो समुदाय औपचारिक शिक्षा में पहले से ही हाशिए पर हैं वे और अधिक उपेक्षित हुए हैं।

हालांकि कुल मिलाकर अधिकांश बच्चे सरकारी स्कूलों में ही जाते हैं, कुल नामांकन में निजी स्कूलों में नामांकन लगातार बढ़ता गया है। इसलिए, क्योंकि माता-पिता को लगता है कि सरकारी शालाओं में पढ़ाई का घटिया स्तर उनके बच्चों के जीवन के अवसरों को और कम कर डालेगा (खान एवं मांजरेकर 2002, सुदर्शन 1998: 20)। इन निजी स्कूलों में अधिकांश का कोई नियमन या प्रबोधन नहीं होता, और कई तो मान्यता प्राप्त तक नहीं हैं। सबूत यह संकेत भी देते हैं कि इन स्कूलों का स्तर घटिया है, शिक्षकों को यहां कम वेतन दिया जाता है और उनमें साधन-सुविधाओं का भी अभाव है। फिर उनकी इतनी मांग भला क्यों है? उनमें ज़्यादातर का मुख्य आकर्षण है अंगरेज़ी पढ़ाना। अतः निजी स्कूलों की मांग का संबंध इस व्यापक धारणा से है कि नए श्रम बाज़ार में बचे रहने के लिए अंगरेज़ी का ज्ञान ज़रूरी है। इस धारणा के चलते जितना धन खर्चा जाता है वह जानना शिक्षाप्रद है। परिवार सरकारी स्कूलों में प्रति बालक, साल भर में औसतन 317 रुपए खर्चते हैं, सरकार द्वारा सहायता प्राप्त स्कूलों में 391 रुपए और निजी स्कूलों में 742 रुपए (सुदर्शन 1998: 20)। उपभोग पर व्यय के प्रतिशत में निजी व्यय 1980 के

दशक की शुरुआत में 2.5 प्रतिशत था, जो 1990 के दशक के खत्म होने तक बढ़कर 3.5 प्रतिशत हो गया (पृ.60) (एनएसएसओ 1995-96, जिसे राष्ट्रीय मानव संसाधन विकास रिपोर्ट, 2001 में उद्धृत किया गया है, पृ.55-56)।

भविष्य में रोजगार से होने वाली आय के आधार पर वैध ठहराए जाने वाले घरेलू खर्च में यह बढ़ोतरी अनिवार्य रूप से भेदभावपूर्ण ही होगी: बालिकाओं के बदले बालकों की शिक्षा को तरजीह दी जाएगी। इस बात के प्रमाण बढ़ रहे हैं कि आय के एक स्तर के नीचे, लड़कियों को अगर पढ़ने भेजा जाता भी है तो सरकारी स्कूलों में ही भेजा जाता है। जबकि उनके भाई निजी स्कूलों में भेजे जाते हैं। बालिकाओं के लिए वैवाहिक योग्यता अब भी एक महत्वपूर्ण मानदण्ड है। सो हालांकि इस बात के सबूत बढ़े हैं कि बालिकाओं की शिक्षा की मांग में, ग्रामीण इलाकों में भी इज़ाफा हुआ है, माता-पिता को प्रेरित करने वाला कारक यह है कि वे बेटियों के लिए शिक्षित, वेतन पाने वाले जीवन साथी चाहते हैं।<sup>1</sup>

शिक्षा में बालिकाओं की कमतर भागीदारी के पीछे जो वास्तविक मुद्दे हैं उनकी सामाजिक समझ और दृष्टि को निजीकरण शायद ही संबोधित कर सकेगा। हालिया घटनाएं संकेत करती हैं कि नीतियां अधिकाधिक रूप से जेण्डर अंधता का शिकार बनती जा रही हैं। कहा यह भी जा सकता है कि बालिकाओं के कल्याण के क्षेत्र में अब तक जो प्रगति हुई थी उसे भी ये नीतियां मिटा रही हैं। मध्याह्न भोजन के आवंटन में भारी कटौती के हम गवाह हैं। यह कार्यक्रम अपनी तमाम समस्याओं के बावजूद गरीब बच्चों, खासकर बालिकाओं के लिए कुछ पोषण सुनिश्चित कर रहा था और उसका बच्चों के ठहराव पर सकारात्मक प्रभाव भी दिखाई दे रहा था (तिलक, 1999)। 93वां संविधान संशोधन विधेयक, जो शिक्षा को एक बुनियादी अधिकार घोषित करता है, उसमें 6 साल से कम उम्र की आबादी को शामिल नहीं किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि आरंभिक बाल्यावस्था शिक्षा का समूचा समेकित बाल विकास योजना (आईसीडीएस) कार्यक्रम ही खतरे में है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि बड़ी बालिकाओं को अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल में और अधिक समय लगाना होगा। शिक्षित महिलाओं के लिए आयवर्धन गतिविधियों पर दिया जाने वाला बल इसी निकट-अंधता का सबूत है। पांच वर्ष की शिक्षा, बुनियादी अंक-अक्षर कौशल जो महज आयवर्धन गतिविधियों को कायम रख सके, वह लड़कियों के लिए पर्याप्त माना जा रहा है। हालांकि आर्थिक स्वावलम्बन महिलाओं के सशक्तीकरण का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, उसे आयवर्धन गतिविधियों में नहीं घटाया जा सकता। क्योंकि इसका मतलब अक्सर कम आय वाली, असुरक्षित नौकरियां होता है, जो अमूमन महिलाओं की परंपरागत भूमिकाओं के मानदण्डों के तहत शामिल हों।

हमारी जाति, जेण्डर और पेशेवर व्यवस्था में व्याप्त ऊंच-नीच पर यह एक माकूल टिप्पणी है कि कोठारी आयोग द्वारा की गई पड़ोसी स्कूलों की अनुशंसा को कभी अमली जामा पहनाया ही नहीं जा सका। हो सकता है कि पड़ोसी स्कूल हमारे समाज की बनावट को ही बदल देते। वे ऐसे तमाम सवाल उभारते जो आज हमारे शैक्षिक अजेण्डा में नदारद हैं, जैसे सीखने का सामाजिक संदर्भ और पाठ्यचर्या की विषयवस्तु। इन दावों के बावजूद कि क्योंकि निजीकरण योग्यता के आधार पर समाज में समता लाता है, संभावना यही है कि वह परिवार व अर्थ व्यवस्था में बालिकाओं, खासकर गरीब बालिकाओं के प्रति भेदभाव का एक और ज़रिया बनेगा। जैसा मेरी वॉरनॉक (1977: 26) ने कहा था: 'शिक्षा के समान अधिकार व समान शिक्षा के अधिकार में ज़मीन-आसमान का अंतर है'। शिक्षा में वर्ग, जाति और जेण्डर असमानताएं, समानता के प्रति सरकार की मज़बूत कटिबद्धता के बिना और भी बढ़ेंगी। इसमें कोई शंका नहीं कि भारत की सरकार इन असमानताओं की रोकथाम में असफल रही है। फिर भी हमें यह भी पहचान लेना चाहिए कि कुलीनों के विशेषाधिकार जो भारतीय पितृसत्तात्मक समाज में स्थापित हैं, उन्होंने भी इस असफलता में योगदान किया है। ये स्वार्थ निजीकरण को भी प्रभावित करेंगे। याद करें कि 25 वर्ष पहले, जे.पी. नायक (1979: 177) ने कहा था कि अगर 'विशेषाधिकारों को समाप्त करना' हो, तो शिक्षा में समान अवसरों को राजनीतिक व आर्थिक मोर्चे पर अवसरों को बढ़ाने से पृथक कर नहीं देखा जा सकता।

## क्या किया जा सकता है?

जहां बहुसंख्यक शासन और बाज़ार की ताकतों के बोझ तले लोकतांत्रिक स्थान लगातार सिकुड़ते जा रहे हों, वहां महिला आंदोलन शिक्षा संबंधी सवालों से फिर से कैसे जुड़ सकता है? मैंने चंद सवाल उठाने का प्रयास किया है जिन्हें संबोधित कर इन सवालों से पुनः जुड़ने की शुरुआत की जा सकती है। मुझे लगता है कि बालिका शिक्षा को प्रभावित करने वाली सभी नई घटनाओं की सघन निगहबानी की आवश्यकता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, संस्कृति की जिस समसामयिक राजनीति को प्रस्तुत करती है उसमें महिलाओं का प्रमुख स्थान है। एक समतामूलक व लोकतांत्रिक संस्कृति के लिए संघर्ष को हमें ऐसी शिक्षा के लिए संघर्ष तक भी फैलाना होगा जो प्राप्त विचारधाराओं की आलोचना करता हो और समतामूलक व लोकतांत्रिक संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकता हो। ऐसा कर पाने के लिए हमें जेण्डर सरोकारों को मुख्यधारा के एक वैकल्पिक शैक्षिक विमर्श में लाना होगा। दुर्भाग्य से, जैसा मैंने संकेत करने की कोशिश भी की है, जो लोग शिक्षा के प्रगतिशील विमर्श का हिस्सा हैं और जो महिला अध्ययन के विद्वान व सक्रियकर्मी हैं, उनके बीच भारी दूरी है। जहां एक ओर शिक्षा के प्रगतिशील विमर्श से जुड़े लोग जेण्डर मुद्दों के प्रति संवेदनशील होते हुए भी उन्हें संबोधित करने में हिचकिचाते हैं, वहीं दूसरी ओर महिला अध्ययनकर्ता व सक्रियकर्मी अपने जेण्डर विश्लेषण के माध्यम से शिक्षा सिद्धान्त, शिक्षाशास्त्र व पाठ्यचर्या के सवालों को संबोधित नहीं करते।

कई महिला सक्रियकर्मी व संगठन शिक्षकों के उन चर्चा सत्रों में भागीदारी करते हैं जिनमें जेण्डर मुद्दों पर चर्चा की जाती है। शिक्षक प्रशिक्षण हस्तक्षेप का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, पर हमें शिक्षकों के स्कूली अनुभवों से पृथक कर दिए जाने वाले प्रशिक्षण के बारे में सावधान रहना चाहिए। स्कूली शिक्षा पर आयोजित एक हालिया सेमिनार में एक संभागी ने इस बात पर दुख व्यक्त किया कि बालिका शिक्षा की समस्याओं पर स्कूल प्रशासन का मानक सुझाव होता है एक प्रशिक्षण का आयोजन। उन्होंने कहा कि प्रशिक्षण को समाधान के रूप में देखने का विचार इस कदर आम हो चला है कि स्कूली शिक्षक और गैर-सरकारी संगठन तक इसे बिना सवाल उठाए स्वीकार चुके हैं। यह बात उस रोचक अनुभव की याद दिलाती है जो दो साल पहले हमें गुजरात के पंचमहल ज़िले में स्कूली शिक्षण के सामाजिक संदर्भों के अध्ययन करने के दौरान हुआ था (मांजरेकर एवं सुरती 2000)। पांच कक्षाओं को एक ही कमरे में (एक नया कमरा ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत बनाया भी गया था पर उसका उपयोग नहीं हो रहा था क्योंकि वह ढहने की कगार पर था) अकेले चलाने वाली एक शिक्षिका ने हमें बताया कि उसने ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के जेण्डर प्रशिक्षण से बहुत कुछ सीखा है। आप कक्षा में उनमें से कुछ विचारों का कैसे उपयोग करती हैं, हमने जानना चाहा। उन्होंने कहा कि वे कक्षा में लड़कियों और लड़कों को साथ-साथ बिठाती हैं क्योंकि उन्होंने प्रशिक्षण में सीखा था कि बच्चों को जेण्डर के आधार पर अलग करना उचित नहीं है। उन्होंने जोड़ा कि इस व्यवस्था से कक्षा में सामाजिक आदान-प्रदान भी थम जाता है जिसके चलते इस कठिन परिस्थिति में उनके लिए पढ़ाना आसान हो जाता है। कई सहशिक्षा वाले स्कूलों में भी, लड़कियों और लड़कों को अलग-अलग बैठाने के अधिक सामान्य तरीके के बजाए, 'लजाने' की तकनीक के रूप में साथ-साथ बैठाया जाता है। शिक्षक इस तकनीक का उपयोग कक्षा में 'अनुशासनहीनता' को रोकने के लिए करते हैं। उपरोक्त उदाहरण स्कूली शिक्षा में जेण्डर सरोकारों को कमतर कर 'जेण्डर प्रशिक्षण' में समेटने के बतुकेपन को रेखांकित करता है। ऐसे प्रशिक्षणों से शिक्षक वही ग्रहण करते हैं जो उनकी प्रतिकूल स्थितियों की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के लिए सबसे व्यवहारिक हो।

निजीकरण वह दूसरा क्षेत्र है जिसकी निगहबानी हमें करते रहनी होगी। विगत लगभग बीस वर्षों में सरकारी स्कूली शिक्षण का जो अवमूल्यन हुआ है, वह बाज़ार सुधारों के बाद 1990 के दशक के प्रारंभ से और तेज़ हुआ है। शहरी इलाकों के आंकड़े दिखाते हैं कि पालिकाओं द्वारा व सरकार द्वारा संचालित स्कूलों में अब मुख्यतः गरीब लड़कियां और हाशिए पर मौजूद समुदायों के बेहद गरीब बच्चे ही हैं; कई शहरों में अच्छी आधारभूत संरचनाओं वाले पालिका स्कूल सूने पड़े हैं। सरकारी निकायों से जुड़कर यह देखना ज़रूरी है कि स्कूली शिक्षण की गुणवत्ता को सुधारने के लिए क्या किया जा सकता है। ताकि अधिक बालिकाएं इन स्कूलों से जुड़ें और शिक्षा का एक स्वीकार्य स्तर हासिल कर सकें।

अंत में, अनेकानेक दबावों के समक्ष, हम अपनी- नारीवादी- समझ पर बहस कर सकते हैं कि समसामयिक भारत में एक शिक्षित बालिका/महिला होने का क्या अर्थ है? क्या हम बालिका शिक्षा की एक वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत कर सकते हैं? युवतियां आज नए और अधिक जटिल प्रकार के नियमनों का सामना कर रही हैं। उदाहरण के लिए, शहरी संदर्भ के हमारे अनुभव सुझाते हैं कि स्कूल जाने वाली किशोरियां बाज़ार और मीडिया के प्रभाव के तहत, नई उपभोग-संबंधी इच्छाओं, जैसे सुंदर दिखने की कामना, का अनुभव कर रही हैं। हमने यह भी पाया है कि अधिक गरीब लड़कियां स्कूल समय के बाद फी-मद दर (पीस रेट) पर काम करती हैं ताकि इन नई ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कमाई कर सकें।

गुजरात में मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा के बाद, यह आशंका रही है कि मुस्लिम बालिकाएं स्कूलों से हटा ली जाएंगी। बेशक, यह मुद्दा हिंसा पीड़ितों के साथ, खासतौर से महिलाओं व किशोरियों के साथ, बातचीत में बार-बार उभरा (पीयूसीएल-शांति अभियान 2002, पंजाबी के व अन्य 2002)। हममें से कुछ लोग एक स्कूल में मुस्लिम किशोरियों के साथ शिक्षा के मुद्दे पर चर्चा करने के लिए मिलते रहे हैं। इन चर्चाओं में भौतिक सुरक्षा के प्रश्न हावी रहते हैं, जैसा मुस्लिम महिलाओं और समूचे समुदाय को लगे सदमे के चलते स्वाभाविक ही है। पर जिस बात ने हमारा ध्यान खींचा, वह है इन बालिकाओं का अपनी शिक्षा जारी रखने का दृढ़ संकल्प। उनमें से कई ने कहा कि वे वकील या शिक्षिकाएं बनना चाहती हैं। क्यों, हमने जानना चाहा। अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए, और लड़कियों को पढ़ाने के लिए ताकि वे भी संघर्ष कर सकें। क्या शिक्षा ऐसे विरोध को उत्पन्न कर सकती है? क्या यही वह वैकल्पिक, विवेचनात्मक चेतना है जिसे हम बालिका शिक्षा के लक्ष्य के रूप में मुखरित करने की उम्मीद करते रहे हैं? और क्या इसके लिए इतनी भारी कीमत चुकाना आवश्यक होगा? जैसा ब्रैख्ट ने कहा था - सवाल हद से ज्यादा हैं। ♦

## टिप्पणी

1. लड़कों और लड़कियों में स्थापित इस द्वैत का - लड़के बेहतर, निजी स्कूल- और लड़कियां - कमतर, सरकारी स्कूल- बालिकाओं के आत्मसम्मान और पहचान पर दुखद नतीजा होता है। मैंने अपने काम के दौरान ऐसी लड़कियों से बात की है जो गहरी पीड़ा के साथ पर इस दुभांत, जो उन्हें शैक्षिक रूप से अपने भाइयों से कम योग्य ठहराती है, पर सवाल तो उठाती हैं पर उसे स्वीकारती भी हैं। यह निजीकरण के सामाजिक परिणामों का एक महत्वपूर्ण आयाम है जिसका और अध्ययन आवश्यक है।

(यह लेख 'इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली' से साभार लिया गया है।)

**भाषांतर : पूर्वा याज्ञिक कुशावाहा**